ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 175-180
ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-03, No.-II, Issues-15YEAR-2014 Extra

स्त्री अस्मिता का प्रश्न और समकालीन हिन्दी साहित्य

डॉ0 मुन्ना तिवारी
सह आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री भगवान महावीर पी.जी. कॉलेज, पावानगर, फाजिलनगर, कुशीनगर, (उ0प्र0), भारत

सारांश : ***उत्तर आधुनिकता के इस युग की धुरी पर खड़ा स्त्री–विमर्श आज के दौर का सशक्त साहित्यिक विमर्श है। इसने स्त्री में स्वतंत्र चिन्तन एवं पुरूश के समान बराबरी दिलाने का दर्शन विकसित किया है। स्त्री का बीसवीं सदी से पूर्व का इतिहास अत्यधिक कालिमापूर्ण रहा है, वहाँ उसे मात्र भोग्या माना जाता था। आज इसी भोग की दुनिया से स्त्री को स्वतंत्रता दिलाना स्त्री विमर्श का प्रमुख ध्येय, है, जिसके लिए स्त्री, पुरूष एवं समाज से ही नहीं अपितु स्वयं स्त्री वर्ग से भी टकराने को तैयार है। आज स्त्री अपना नाम एवं समाज में अपना 'स्पेस' जान गई है और वह इस तथ्य से भी भलीभाँति परिचित हो गई है कि स्त्री पर हो रहे अत्याचार का बहुत बड़ा कारण स्त्री की 'देह' है। इसीलिए महिला साहित्यकार स्त्री देह पर चर्चा–परिचर्चा करते हुए सिर्फ 'देह' ही नहीं बने रहना चाहती बल्कि वह समाज में अपना स्वतंत्र अस्तित्व विकसित करना चाहती है। 'स्वतंत्रता' स्त्री विमर्श का मुख्य विषय है। आज भी हमारे समाज की 90 प्रतिशत स्त्रियाँ किन्ही कारणों से खुद अपनी केंचुल में, परम्परा पोषित स्त्रीत्व की कैद में है। आज भी समाज में विशेषतः निम्न–मध्य–वर्गीय समाज एवं मुस्लिम स्त्रियों को घर, परिवार यहाँ तक कि स्वयं अपने विषय में कोई निर्णय लेने का अधिकार नहीं है। ऐसे समाजों में स्वतंत्र निर्णय लेने वाली स्त्री को सामाजिक निरादर के साथ–साथ तिरस्कार, अवहेलना और प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है।' इक्कीसवीं सदी की शैशवावस्था में खड़े देश एवं दुनिया को इस सम्बन्ध में गम्भीरता से चिन्तन करना होगा।***

कुंजीभूत शब्द– स्त्री–विमर्श, साहित्यिक विमर्श, स्वतंत्र चिन्तन, कालिमापूर्ण, अत्याचार, साहित्यकार।

वैसे तो हिन्दी साहित्य में आरम्भ से ही स्त्री विशयक चर्चा–परिचर्चा अनवरत चलती रही है, चाहे सिद्धों, चरणों, नाथों, संतो, सूफियों का साहित्य हो अथवा भक्ति एवं रीतिकालीन साहित्य। इन सब में कमोवेश 'स्त्री' को पारम्परिक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यदि स्त्री पुरूष को सर्वस्व मानकार उसकी दासता करना ही परम ध्येय माने है तो वह देवी है, लक्ष्मी है, पार्वती है और यदि उसने पुरूष सत्ता से विरोध कर स्वतंत्र निर्णय लेने का निश्चय कर लिया तो वह सर्पिणी, कुलटा और कलंकिनी हो गयी। ऐसे में आजीवन उसे लांछना एवं प्रताड़ना ही सहना है चाहे वह संवेदनात्मक रूप में पत्थर (अहल्या) हो जाय, धरती में समा जाय (सीता) अथवा विशय के प्याले को अमृत मानकर पी जाये (मीरा) किन्तु इस पर भी पुरूष समाज रंचमात्र विचलित नहीं हो सकता।[2] यद्यपि आधुनिक काल के प्रारम्भ में कुछ दशकों तक समाज सुधार आन्दोलन चलाये गये तथापि स्त्रियों के विषय में कुछ दशकों तक समाज सुधार आन्दोलन चलाये गये तथापि स्त्रियों के विशय में साहित्यकारों का रवैया पूर्णतः पारम्परिक ही रहा है। इस समय तक देश में पाश्चात्य भाषाओं एवं समाजों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होने लगा था परन्तु यह भी कटु यथार्थ है कि स्वतंत्रता पूर्व तक स्त्रियों को छद्म नामों से ही (राजेन्द्र बाला घोष 'बंगमहिला') अपने भावों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती थी। इस समय तक जितनी भी महिला साहित्यकार हुई हैं वे वर्तमान कालीन स्त्री–विमर्श की कसौटी पर परम्परा समर्थित ही दिखलाई पड़ती है। उनमें स्त्री–मुक्ति, स्वतंत्रता एवं अस्मिता की तलाश जैसे मूल्य दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। स्वतंत्रता पूर्व के साहित्यकारों में स्त्री मुक्ति/स्वतत्रंता के स्वर इस तरह ही दिखलाई पड़ते हैं और ऐसे स्वरों में भी स्त्री के प्राचीन आदर्श रूप की कामना ही अधिक है। इस समय तक के साहित्य का लक्ष्य स्त्री में शालीनता, शिष्टता, मृदुलता, कोमल–मांसलता, यौन शुचिता, सच्चरित्रता आदि–आदि गुणों का मंडन ही है। स्त्री की इच्छा, स्वतंत्रता, जागरूकता, अस्मिता जैसे स्त्री विमर्श के मान्य मूल्य वहाँ अर्थहीन एवं अमान्य हुए हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संविधान में लिंग, जाति, धर्म भाषा, क्षेत्र आधारित किसी भी प्रकार के भेदभाव को कानूनी अपराध घोशित किया गया और स्त्री शिक्षा तथा उन पर होने वाले अपराधों को दृष्टि में रखते हुए स्त्रियों को पुरूषों के समान अधिकारों की घोशणा की गयी। ऐसे में भारतीय संविधान से संरक्षण एवं सत्प्रेरणा प्राप्त कर अनेक स्त्री साहित्यकारों ने स्त्री की समस्याओं पर अपनी लेखनी चलाई। महादेवी वर्मा, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, शिवानी, ऋता शुक्ला, श्रीमती कमल कुमार, कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, कृष्णा सोबती, चित्रा मुदगल, दीप्ति खण्डेलवाल, नमिता सिंह, नासिरा शर्मा, पद्म सचदेवा, प्रभा खेतान, मणिका मोहिनी,

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-03, No.-II, Issues-15YEAR-2014 Extra

मालती जोशी, महरून्निशा परवेज, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, मृणाल पाण्डेय, इन्दिरा राय, पुष्पा सिंह उशा किरण खान, अर्चना वर्मा, चन्द्रकान्ता, अल्का सरावगी, अल्का पाठक, शशिप्रभा शास्त्री, सूर्यबाला, उषा देवी मित्रा, कमला चौधरी, गीतांजली श्री, मंजुल भगत, लवलीन, प्रतिभा, मुक्ता, नीलिमा सिन्हा, तेजी ग्रोवर, मीनाक्षी पुरी, कल्पना सिंह, रमणिका गुप्ता, उर्मिला गुप्ता, क्षमा शर्मा, शकुन्तला सिरोठिया, रामकली सर्राफ, सरिता सूद, राजी सेठ, कंचनलता सब्बरवाल जैसी अनगिनत महिला साहित्यकार हैं, जिन्होंने स्त्री शोषण, लिंग आधारित भेदभाव, पारिवारिक हिंसा और स्त्री अस्मिता की बेलाग एवं बेलौस वकालत की गयी है। इन स्त्री साहित्यकारों ने स्त्री के शरीर, स्त्री के जीवन, संस्कार, मन, संस्कृति आदि को साहस के साथ वैविध्यपूर्ण ढंग से चित्रित किया है। जो विषय कभी लज्जाजनक एवं पुरूषों द्वारा ही चित्रित किये जाते थे उन पर भी स्त्री लेखिकाओं ने अपनी लेखनी चलाई है। इन साहित्यकारों में सामाजिक टेटुओं और अछूत विशयों पर लेखन आम बात है। अति गम्भीर विषयों को भी सीधी–सरल भाषा में साफगोई के साथ स्त्री साहित्यकारों ने उकेरा है। आज की स्त्री लेखिकाएँ पहले की तुलना में अधिक जागरूक, साधन सम्पन्न और सक्रिय हैं, यह स्त्री विमर्श का सुखद पक्ष है।

'स्त्री' भी एक ऐसी संपूर्ण मानवीय इयत्ता है जो पुरूश से शारीरिक भिन्नता लिये असीम संभावनाओं का वैसा ही पंजीभूत रूप है जो अपनी आन्तरिकता, वैयक्तिकता और स्वतन्त्रता द्वारा जीवन के उच्चतम सोपनों को स्पर्श कर सकती है। लेकिन दिनोंदिन विकसित होती सभ्यता और आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों की विसंगतियों और जटिलताओं के साथ केवल लिंग आधार पर किए गए सामाजिक वर्गीकरण में स्त्री का अस्तित्व क्रमशः पेचीदगियों के घेरे में उलझता गया। समाज का स्वरूप पुरूश सत्ताप्रधान होता गया और स्त्री अस्मिताहीन दुर्बल शोशित।' श्रृंखला की कड़ियाँ' में महादेवी वर्मा लिखती हैं–

"पुरूष के समान स्त्री भी कुटुम्ब समाज, नगर तथा राज्य की विशिष्ट सदस्य है तथा उसकी प्रत्येक क्रिया का प्रतिफल सबके विकास में बाधा भी डाल सकता है और उनके मार्ग को प्रशान्त भी कर सकता है। प्रायः पुरूष का जीवन अधिक स्वच्छंद वातावरण, विशिष्ट व्यक्तियों के संसर्ग द्वारा बनता है और स्त्री का संकीर्ण सीमा में परम्परागत रूढ़ियों से – जिससे न उसे अपने कुटुम्ब से बाहर किसी वस्तु का अनुभव हो और न अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान।"[3]

इस प्रकार स्त्री–अस्मिता का स्वरूप धीरे–धीरे अमूर्त्त, अपूर्ण और एकांगी प्रतीत होने वाली परिभाषाओं में कैद होता गया और दूसरों के बनाये मिथक के सांचे में बद्ध स्वयं स्त्री भी किस प्रकार धीरे–धीरे अपना मानवीय स्वरूप मूल 'आदर्श छवि' बनने की होड़ में 'अन्या'बनती गई – उन परिस्थितियों की संक्षिप्त चर्चा अब हमें करनी चाहिए।

मानव सभ्यता की शुरूआत से ही अर्थात् आदिम युग से ही स्त्री की गुलामी दिखने लगी हैं। मनुष्य जब जंगलों या पहाड़ों की गुफाओं में रहता था तो शिकार कर जीवनयापन करता। स्त्री–पुरूष दोनों साथ–साथ स्वतन्त्र जीवन जीते। किन्तु जैसे–जैसे स्थितियों की भिन्नता ने पुरूष के शारीरिक बल की अधिकता और नारी के मातृत्व–भाव को प्रमाणित किया, वैसे–वैसे नारी का परावलंबन भी बढ़ने लगा। कार्य–क्षमता का बंटवारा हुआ। स्त्री गर्भस्थ शिशु की देखभाल के लिए घर पर रहने लगी और पुरूश अपनी संतति की रक्षा हेतु अधिक सावधान और कर्मठ हुआ। ज्ञान और गतिविधियों के विस्तार के साथ संचय की प्रवृत्ति पनपी और शारीरिक बल में श्रेष्ठ होने के साथ–साथ जैविक सीमाओं से भी मुक्त पुरूष स्त्री का स्वामी और बल का मालिक बना।[4]

"सामाजिक अस्मिता का सरोकार सिर्फ अन्य के बरक्स स्वयं को परिभाषित करने तक सीमित नहीं है। कोई भी समाज स्वयं अपने किसी अंश के साथ क्या सलूक करता है – यह अस्मिता के संदर्भ में गहरे अन्वेशण का सवाल है।"[5]

अर्थात् अस्मिता का परिप्रेक्ष्य सामाजिक ही होता है। समाज से स्वयं के रिश्ते की पहचान के बाद मनुष्य निजी तौर पर 'स्व' की खोज में उन्मुख होता है। सृष्टि के सभी तत्वों, तथ्यों तथा जीवन–मर्म की पूरी तरह उपयोग और उपभोग ही मानवजीवन की सार्थकता है। हालाँकि सृष्टि के समस्त प्राणियों को जीने का अधिकार है लेकिन मानवीय परिप्रेक्ष्य में जीने का अर्थ केवल उसी का है जिसके जीने की कोई कामना है, लक्ष्य या उपयोगिता है अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए मानव दो प्रकार से संघर्शशील होता है – व्यक्तिगत रूप से तथा सामाजिक रूप से।

स्वयं के माध्यम से किए गए कार्य नितांत व्यक्तिगत या स्वार्थ रूप में होता हैं। जबकि औरों के साथ मिलकर सहयोगपूर्वक किए गए कार्य कर्तव्य या धर्म के रूप में होते हैं जो समाज–सापेक्ष के साथ लोकमंगलाकांक्षा निहितार्थ होते हैं। ऐसे सद्भावपूर्ण कार्य उसके व्यक्तित्व के विविध आयामों को प्रस्फुटित कर उसे विकास के उन सोपानो तक ले जाते हैं जहाँ निर्मल आनन्द की चरम अनुभूति होती है इसलिए व्यक्ति समाज–सापेक्ष है और इसीलिए वह समाज–व्यवस्था का पोषण भी करता है।

भारतीय समाज की रूपरेखा न केवल पुरूष प्रधान रही बल्कि वहाँ स्त्री को मानवीय मानुशी समझने से ही इन्कार कर दिया गया। उसकी अनेक ऐसी परिभाषाएँ निश्चित कर दी गई जिसमें कभी तो वह देवी बनी, कभी दानवी, कभी पत्नी,

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-03, No.-II, Issues-15YEAR-2014 Extra

कभी माँ तो कभी पुत्री। अर्थात् उसके समग्र व्यक्तित्व को पुरूष–निर्भर संबंधों में बाँट दिया गया।

'स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक' में मृणाल पांडे का कहना है –

''लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक दायरों में स्त्री को पुरूष के संदर्भ में एक अपूर्ण और सापेक्ष जीवन के रूप में ही देखा गया है। वरना न ऐसा माना जाता कि मात्र स्त्री होकर जन्म लेना ही सही सामाजिक संदर्भ में (सार्थकता से) 'स्त्री' होने के लिए पर्याप्त है और हर स्त्री के लिए स्त्रीत्व (यानी खास तरह से उठने, बैठने, बोलने, चलने) की विशिष्ट तालीम भी लेते चलना जरूरी न कहा जाता।''[6]

स्त्री सामाजिक प्राणी होते हुए भी गृहविहीना ऐसी जीव है जिसका घर तो क्या रातों–रात नाम भी बदल दिया जाता है। बचपन से युवा हुआ उसका तन केवल एक अजनबी पति को सौंप दिया जाता है वरन् एक नये वातावरण, परिवार, संबंधी के बीच जानवर की तरह चुप रहकर काम करने और सब कुछ प्यार से सहने को मानसिक रूप से विवश किया जाता है।

कन्या का यह हस्तांतरण पिता के लिए ऐसा धर्मपूर्ण 'कन्यादान' कहलाता है जिसके बाद उसकी चिंता करने के बजाय वह 'गंगा नहाने–सा सुख और पुण्य' प्राप्त करता है। मायके से ससुराल विदा होते ही कन्या के सारे अधिकार मायके से समाप्त हो जाते हैं। वह कभी–कभी आकस्मिक मेहमान के तौर पर अब उस घर में आ जा सकती हैं जहाँ उसने उम्र का लंबा सफर तय किया है। यही नहीं, किसी कारणवश यदि ससुराल वाले उसे ताड़ना देकर घर के बाहर निकाल दें तो वह वापस अपने घर नहीं जा सकती। इस प्रकार न तो मायका अपना और न कभी ससुराल ही उसका 'अपना' हो पाता है। एक गुलाम बंदी की तरह भरपेट भोजन, एक छत, चंद कपड़ों की खातिर अपने तन–मन की सेवा उसे दूसरों को देनी पड़ती है। यह भाव उसमें एक हीनता तथा असुरक्षा की भावना पैदा करता है। इसी की प्रामाणिक जांच करते हुए 'मधुकिश्वर' लिखती हैं–

श्This lack of basic of rights in both her nature and manital home contributes enomously to making a woman experience perpetual insecutity, especially in those communities where a woman is kept form owning property in her own name.[7]

यदि समाज में कोई स्त्री विधवा हो जाये तो समाज उसके साथ बहुत बुरा बर्ताव करता है। उसे मनपंसद कपड़े या आभूषणों की आज्ञा नहीं दी जाती। यदि वह दुबारा विवाह करना चाहे तो 'कुलटा' कहकर उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है।

यहाँ यह अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात है कि जिस दौर में ज्ञान–प्रसार आंदोलन के जो सितमगर 18 वीं सदी की क्रांतियों का नेतृत्व कर रहे थे और मनुष्य के अधिकारों की बात सरेआम उठा रहे थे, उनकी अवधारणाओं में स्त्री उस रूप में मनुश्य नही थी। पुरूष और स्त्री दोनों अलग हैं – यह मानकर चला गया। तथ्यों को गौर करने पर पता चलता है कि मनुष्य के अपने अधिकार की अवधारणाओं में उन्होंने स्त्रियों को शामिल ही नहीं किया, बल्कि स्त्रियों को पुरूषों से अलगाने की बातें भी बौद्धिक व्यक्तिवाद के जिन सिद्धान्तों की चर्चा की जानी थी, उन्हें स्त्रियों पर लागू नही किया जाता था। तर्क दिया जाता था कि स्त्रियाँ अपनी प्रवृत्ति से ही बौद्धिक रूप से पूर्ण विकसित होने में असमर्थ हैं। वाल्तेयर, दिदेरी, मान्टेरक्यू तथा रूसो आदि विचारकों में यह बात स्पष्ट रूप से आती है कि स्त्रियाँ मूलतः भावनाओं और आवेग की उपज मात्र हैं वे पत्नियाँ और माता बनने के लिए तो ठीक हैं लेकिन सार्वजनिक क्षेत्र के लिए, सार्वजनिक कारणों से ही उपयुक्त नहीं है।[8]

काल्पनिक समाजवादियों का यह चिंतन एक नये दृष्टिकोण के रूप में विलियन थॉम्पसन तथा प्रसिद्ध समाजवादी स्त्रीवादी अध्यापक अन्ना व्हिलश पुस्तक 'Appeal of One Half of the Human Race' Women, Againsttic Prefensions of the other Half, Men to Retin their in Political and our and Domestic Salavery' आई जिसमें उन्होंने स्त्रियों के लिए केवल राजनीति अधिकार और समान बौद्धिक क्षमताओं की ही बात नहीं की, बल्कि और दो कदम आगे बढ़ते हुए उन्होंने स्त्रियों को शारीरिक दृष्टि से पुरूषों की तुलना में कही है प्रेषक बताया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि, स्त्रियों के समान अधिकार तभी सार्थक होंगे जब निजी संस्थाओं और प्रतियोगिता के स्थान पर समाज का आधार समान मिल्किमत का होगा – ''उत्पादन या निजी संपति के संबंध में श्रेष्ठता हमेशा आदमी के कार्यों में औरतों की तुलना में कहीं ज्यादा महत्त्वशाली होने की अनार्थिक भावनाओं का गुंजाली रहेगी।[9]

इस प्रकार, विलियम थॉम्सन ने स्त्री आंदोलन के एक नये दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए जिससे स्त्रियों के लिए समान अधिकार की मांग करते हुए उन्हें अनिवार्य रूप से सामाजिक संबंधों, उत्पादन संबंधों के साथ जोड़ कर देखने पर बल दिया और इस निश्कर्श तक पहुँचने में योगदान दिया कि, स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता उनकी वास्तविक स्वन्त्रता के लिए जरूरी है। इसी क्रम में उन्होंने स्त्री मुक्ति को पूरे समाज की मुक्ति का सूचक भी बताया। उन्होंने लिखा– ''जिस प्रकार औरत की गुलामी ने आदमी को अज्ञानता और

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-03, No.-II, Issues-15YEAR-2014 Extra

निष्ठुरता के क्षेत्रों में जकड़ रखा है। उसी प्रकार उसकी मुक्ति से आदमी को ज्ञान, स्वतन्त्रता और सुख का पुरस्कार मिलेगा।"[10]

उदारतावादी स्त्रीवाद जहाँ यह मानता था कि कानूनी और राजनीतिक अधिकारों की मांग से स्त्रियों की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है वहाँ विद्रोह स्त्रीवाद पूरे राजसत्ता के प्रावधानों को पितृसत्तात्मक ढांचे के साथ जोड़कर देखती है। 1968 में टाइ–ग्रेस ऐटकिन्सन के नेतृत्व में लिबरल ग्रुप से अलग हो कर रैडिकल ग्रुप ने ऐलान किया कि – लड़ाई पुरूष से नहीं पितृसत्तात्मक समाज से होनी चाहिए। स्त्रियों की स्थिति की सुधार के लिए यह आवश्यक है कि योजनाबद्ध ढंग से इसकी एक–एक संस्था में खासकर परिवार, धर्म और सामाजिक आदि में –वैधानिक, राजनीतिक और आर्थिक ढंग के रचनात्मक परिवर्तन घटित कराये जाने चाहिए।

इसी प्रकार अर्थव्यवस्था की उस मार्क्सवादी धारणा की भी ये खिलाफत करता है कि – स्त्रियों का उत्पीड़न एकवर्गीय समाज की उपज होता है तथा पूंजीवाद की समाप्ति और वर्गविहिन समाज की स्थापना से यह उत्पीड़न समाप्त हो जाने वाला है।

इनका मानना है कि सिर्फ आर्थिक परिवर्तन मात्र समाज की पितृसत्तात्मक सत्ता का गहरा जमा ढाँचा बदल नहीं सकता तथा समाजवादी क्रांति नहीं बल्कि पुरूषों द्वारा सत्ता को हड़पने का एक और विद्रोह मात्र होगा।"[11] रेडिकल फैमिनिस्ट्स के अनुसार, स्त्रियाँ सिर्फ स्त्री होने के कारण आर्थिक शोषण का शिकार बनती है। इसी के आधार पर वे कहती है कि सर्वहारा वर्ग में भी निम्न उत्पीड़न तो है ही। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1980 की अपनी रिपोर्ट में इस तथ्य को सामने रखा कि – "स्त्रियाँ दुनिया की आबादी का आधा हिस्सा है, कुल काम का दो–तिहाई हिस्सा वे करती हैं लेकिन दुनिया की आमदनी का सिर्फ दसवाँ हिस्सा उन्हें मिलता है और दुनिया की संपति के सौंवे हिस्से से भी कम संपत्ति स्त्रियों के पास है।"

इसी प्रकार रेडिकल फेमिनिस्ट्स मानती हैं जैसे –स्त्री का शरीर ही इस पर होने वाले शोषणों का जिम्मेदार है इसके साथ ही एक और तथ्य घरेलू कामकाज का मूल्यांकन न होना भी पूंजीवाद के अन्तर्गत एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक और विचारधारात्मक मनोवैज्ञानिक भूमिका अदा कराता है। स्त्रियों के घरेलू श्रम का अपना एक स्वतन्त्र भौतिक आधार होता है। शुलमिथ फायरस्टोन ने 'डायलेटिक्स ऑफ सेक्स' में आगे बढ़कर प्रेम को भी स्त्रियों के उत्पीड़न का कारक बताया। उनके अनुसार पितृसत्तात्मक समाज में प्रेम समानता पर आधारित नहीं हो सकता।

समाजवादी स्त्रीवादी दृष्टिकोण मार्क्सवादी दृष्टिकोण से इस अर्थ में भिन्न है कि समाज स्त्री की स्थिति के बारे में एक विशेष प्रकार का जो आर्थिक नियतिवादी दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है, ये उसके खिलाफ थे। हीदी हार्टमैन ने अपने महत्वपूर्ण आलेख "The Unhappy Marriae of Marxism and Feminism" में लिखा – "वर्ग, रिजर्व आर्मी ऑफ लेबर 'वेग लेबर' आदि अवधारणाएँ इसकी व्याख्या नहीं कर पातीं कि स्त्रियाँ अधीनस्थ हुई कैसे। जो रिश्ता मजदूरों का पूंजीपतियों से होता है, कमोवेश वही रिश्ता स्त्रियों का पुरूशों से होता है।"[12]

नई कविता में स्त्री विमर्श की जो भाव भूमि सृजित हुई है, उस पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नई कविता से पूर्व छायावादी कविताओं में हमें नारी चिन्तन का जो रूप प्राप्त होता है, उसमें भारतीय परम्परा और अतीत का गौरव समाया हुआ है। नयी कविता का कवि इस संघर्श प्रधान युग में नारी को केवल सहचरी बनाकर संतुष्ट नहीं है, वह जीवन यात्रा की स्वतंत्र जीवन संगिनी के रूप में उसे देखता है। आज की नारी में अन्तः विद्रोह है और उस अन्तः विद्रोह का कारण स्पश्ट करने के लिए नारी में कछुए सी क्षण में सिमट जाने वाली प्रवृत्ति है।

आज नारी को योनि रूप मानकर उससे घृणा करने वाले पक्ष को चुनौती देता हुआ कवि नारी की पवित्रतता का उद्घोश करता है। वह नारी को उर्वशी मानकर उसके मत्थे मढ़े गये अपवित्रता के दोश का भंडाफोड़ करके पुरूष की दमित वासनाओं को उत्तरदायी ठहराने का संकल्प कर रहा है। नारी वासना की घोर आँधियारी में भी अनुभूति के अलौकिक तथ्य छिपाये हुये कवि को ज्ञान, ईश्वर, गीत और आत्मभिमान प्रदान करती है। कवि नारी को किसी भी रूप में उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता, नयी कविता का कवि नारी को कविता की आदि प्रेरणा मानता है।

तुम छन्दों की आदि प्रेरणा प्रथम श्लोक की प्रथुल वेदना"[13]

इसीलिये कवि भावना में परिवर्तन की कल्पना करता है –

तुमसे चार शब्द कहता हूँ, सुनती भी हो शुकुन्तलाओं
कुछ तन की भाषा को बदलों, कुछ मन का व्यांकरण संभालों।
तुमसे एक प्रार्थना मेरी, सुन लो कोटि–कोटि सीताओं।
करो नहीं निवर्सन सत्य को, भ्रम वाला आवरण संभालों।"[14]

नई कविता के सृजनात्मक स्त्री विमर्श चिन्तन के संदर्भ में कहा जा सकता है कि कभी इस साहित्य में नारी का वासनात्मक रूप अधिक उभरा है तो कभी उसका क्रांतिकारी समाज सुधारवादी रूप। कभी कवि सौन्दर्य पर मोहित हो नारी के रूप पर दो क्षण आँखें गड़ाता रहा है, तो कभी उसके गुणों का गान करता रहा है और उसके विभिन्न रूपों जननी, प्रेयसी, पत्नी आदि में अपने मन की भावनाओं को व्यक्त करता है।

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-03, No.-II, Issues-15YEAR-2014 Extra

पुरूष के जीवन में नारी ऐसी छायी हुई है कि जब तक काव्य की सृष्टि होती रहेगी, उसमें नारी का प्रकारान्तर से चिन्तन व्यक्त होता ही रहेगा। छायावादी काव्यधारा में नारी का चित्रण प्रतीकों के माध्यम से सांकेतिक रूप में हुआ, वहीं नयी कविता में नारी चिन्तन का एक स्वतंत्र विषय ही बन गयी है। कारण नयी कविता की भावभूमि स्वयं 'मानवता' है। गतिशील मानवता अपने विकास के लिये आवश्यक मर्यादाओं को स्वीकार करती है, बन्धनों को नहीं। नयी कविता में यह भावना स्पश्ट रूप से दिखाई पड़ती है–

चमचम चूनर चोली पर तो लाखों ही थे लिखने वाले मेरी मगर ढिटाई मैंने फटी कमीजों के गुन पाए'[16]मैं विद्रोही हूँ जग में विद्रोह कराने आया हूँ, क्रान्ति क्रान्ति का सरल सुनहरा राग सुनाने आया हूँ'[18]

परिवर्तन के प्रभाव से नये युग की नयी नारी अपने अस्तित्व के प्रति सजग है। इसीलिये नारी ने घूँघट को उलट दिया है, पर्दे को फाड़ दिया है, प्रचीरों को ध्वस्त तथा बन्धनों को चूर–चूर कर दिया है –

नई नारी,
हाँ, नई नारी
देखों वह अंतरिक्ष पर अवतीर्ण हुई है,
घूँघट को जिसने उलट दिया है
पर्दे को जिसने फाड़ फेंका है
प्राचीरों को जिसने ध्वस्त पस्त पर डाला है
बन्धनों को जो चूर चूर कर चुकी है
देखों, नई नारी, वह खड़ी है।'[17]

हिन्दी साहित्येतिहास के सन्दर्भ में नयी कविता के युग तक आते आते भारतीय दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। युग बदला, युग की परिस्थितियाँ बदली। युग की मान्यतायें बदली और प्राचीन विश्वासों की नींव पर नये विश्वासों की प्रतिष्ठापना हुई। इस परिवर्तन का प्रभाव काव्य पर भी पड़ा। नई कविता के कवि नारी को समान प्रतिष्ठा प्रदान करने लगे जिससे आज नारी पुरूश के समान अधिकारों की भोग्या बनकर समान कार्यों में उसका हाथ बंटाने वाली हो गयी। इस सम्बन्ध में कवि का कथन है – कि प्रेम और विरह के गान आज बदल गये है और प्राचीन परम्पराओं में भी परिवर्तन हो रहा है।

इस प्रकार इस युग में नारी आत्मसम्मान और स्वाबलम्बन की भावना लिये हुये अपने अधिकारों के प्रति अधिक सचेत और प्रयत्नशील है। पाश्चात्य विचारधारा, समाज सुधार की भावना और मानवतावाद से राश्ट्र प्रभावित होकर नारी भावना का विकास अनेक दिशाओं में हुआ है। कवि पीड़िता नारी समाज के प्रति सहानुभूति रखता है, इसी कारण उसके लिये नारी का हृदय ही स्वर्गागार बन गया है।

'यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर,
तो वह नारी उर के भीतर'[18]
'तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि
मुझे है स्वर्गागार'[19]

विश्व में जो कुछ भी महान है, सृष्टि में जो कुछ भी कल्याणकर है उसके आधे का कर्त्ता पुरूष और आधे की नारी है।

'विश्व जा किछु महान सृष्टि चित कल्याण कर,
अधैक तार करिया छे नारी, अधैक तार नर'[20]

अतएव आधुनिक मानवतावाद, सम्वेदन और साम्य भावना के प्रचार और जन जाग्रति के कारण, वह दिन दूर नहीं है, जब पृथ्वी पुरूष के साथ नारी का महत्वपूर्ण योगदान स्वीकार करेगी।

राजेन्द्र यादव द्वारा सम्पादित पुस्तक ''देहरि भई विदेस'' की पीठिका में लिखा गया है कि "अपनी बात कहकर स्त्री अपने भीतर के उस भय को जीती है जिसे परिवार और समाज ने हजारों सालों में उसके असुरक्षित अस्तित्व का पर्याय बना दिया है। हर स्त्री कन्या एक दमन–कथा भी है और विद्रोह कथा भी।''

आज स्त्री आत्म कथा लेखन में यह सोच चमकती दमकती दिखाई पड़ रही है कि वह स्त्री की पहचान को स्थापित करने की कोशिश में है। इस पथ के जो खतरे है उन्हें भी स्त्री रचनाकार समझ रही हैं और जिन्हें समझना जरूरी भी है। उनके लेखन में उन्नति, आत्म सम्मान, आगे बढ़ने की ललक की जय भी ध्वनित हुई है। स्वन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् महिला आत्म लेखन में बहुत ही क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ और वह अपने मार्गोन्नति के उत्तरोत्तर शिखर पर बढ़ती चली जा रही हैं। आज ऐसी सशक्त महिलाएँ हैं जो अपने व्यक्तित्व के द्वारा अपना अस्तित्व कायम कर रही हैं। समकालीन महिला आत्म कथा लेखिकाओं में उनके जीवन की आत्म संघर्षशीलता के साथ ही साथ वृहद् चिन्तन शीलता भी है। इसके साथ ही पुरानी परम्पराओं से स्त्रियों के प्रति होने वाले अत्याचार को भी उद्घाटित किया गया है। समकालीन आत्म कथा लेखिकाओं का कदम अव्यवहारिक सामाजिक व्यवस्थाओं के विरूद्ध क्रान्तिकारी कदम की शुरूआत करना है जिसका उद्देष्य सोये हुए समाज को जगाना है और अपने अधिकारों को प्राप्त करना है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 सियाराम– साहित्य के दर्पण में स्त्री (भूमिका) पृ0– IX.
2. उपरिवत्–पृ0–IX.

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-03, No.-II, Issues-15YEAR-2014 Extra

3. महादेवी वर्मा– श्रृंखला की कड़ियाँ पृ0–19.
4. रूपा सिंह – स्वातन्त्रोतर स्त्री विमर्श और स्त्री अस्मिता पृ0–24.
5. पुरूषोत्तम अग्रवाल– संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध पृ0–24.
6. मृणाल पाण्डेय– परिधि पर स्त्री पृ0–27.
7. मधुकिश्वर– मानुशी पत्रिका नं0– 94 मई–जून 1996 पृ0–7.
8. जे0 टैण्डल The Orian of Modern Familian Women in British France and the united State, 1980-1960] London Maekmilan.
9. अपील– Willian jhomsen Appeal of one walf of the Human Race, against the post emensions pontieal and thonse eivil and domestic slavery, P- 213.
10. उपरिवत्– पृ0–213.
11. रूपा सिंह – स्वातन्त्रोतर स्त्री विमर्श और स्त्री–अस्मिता पृ0–16.
12. अनामिका–स्त्रीतत्त्व का मानचित्र पृ0–48.
13. "प्रभाकर माचवे– तारसप्तक–पृ0–53.
14. क्षेमचन्द्र सुमन– गीतों के बादशाह 'रामावतार त्यागी' पृ0–101.
15. क्षेमचन्द्र सुमन– नीरज पृ0–8.
16. उपरिवत् पृ0–5.
17. उपरिवत्–पृ0–5.
18. रामवृक्ष बेनीपुरी–नई दिल्ली पृ0–9.
19. सुमित्रानन्दन पन्त– ग्राम्या (स्त्री) पृ0–83.
20. कल्पना (सामाजिक पत्रिका सितम्बर 1954) नजरूल इस्लाम (बंगाल भाशी कवि) पृ0–67–68.

*****